Nikaṣa, Vol.-1, Issue-4, 2012, Page 21-29 ISSN: 2277-6826

# श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मवाद की आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिकता

संजय कुमार तिवारी*

tiwarysanjayk@rediffmail.com

कृ (करण) धातु से निष्पन्न कर्म शब्द का अर्थ है, क्रिया या कार्य अर्थात् अलग-अलग चेष्टा, जिसका संस्कार जीव के चित्त पर पड़ता है। वेदों से लेकर ब्राह्मणकाल तक वैदिक परंपरा में कर्म का यही अर्थ फलित होता है जिसमें यज्ञ-यज्ञादि नित्य नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म के अर्थ में स्वीकृत किया गया। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में दैव, यज्ञकर्म एवं ऋतादि की कल्पना से ही कर्म सिद्धान्त का उद्भव हुआ तथापि इनमें विस्तृत व सुव्यवस्थित रूप में दार्शनिक चित्रण नहीं हुआ है, जितना कि परवर्ती काल में। उपनिषदों में जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का वर्णन है। जीवात्मा फल के लिए कर्मों का कर्त्ता है एवं किये हुए कर्मों का भोक्ता भी है।[१] यहाँ यह भी बताया गया है कि जीव मूलतः न स्त्री है, न पुरुष और न ही नपुंसक। वह अपने कर्मों के अनुसार ही शरीर धारण करता है व उससे उसका संबंध हो जाता है। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन।[२] अर्थात् पुण्यकर्म से पुण्यशाली और पाप कर्म से पापी बनता है। तभी तो कहा गया है कि जीव कामनाओं का बना हुआ है। वह जैसा संकल्प करता है वैसा ही बन जाता है। इस संदर्भ में मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि "यह जीवात्मा जिन काम्य वस्तुओं की कामना करता है, उन्हीं कामनाओं के फल से उसका जन्म निश्चित हो जाता है।[३] इस तथ्य को बृहदारण्यकोपरिषद् में यह कहकर स्पष्ट किया गया है कि "जिसका मन जिसमें आसक्त है उसी स्थान में उसे कर्म ले जाता है।"[४] यहाँ काम, संकल्प और कर्म तथा कर्मफल का संबंध अत्यंत ही कुशल ढंग से विवेचित किया गया है। किन्तु इससे तो यह फलित होता है कि व्यक्ति स्वतंत्र रूप से कुछ भी करने में अक्षम है। वह सर्वत्र कामना संकल्प व चेतना रूप कर्म की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। कौषीतकि उपनिषद् में यह उद्घोषणा है कि मनुष्य ईश्वराधीन है। यदि वह मनुष्य की उन्नति चाहता है तो उससे सत्कर्म कराता है एवं वह उसका पतन चाहता है तो उससे पापकर्म कराता है।[५] यहाँ जीव को कर्म करने की स्वतंत्रता का निश्चित रूप से निषेध किया गया है जबकि छान्दोग्योपनिषद् कुछ

---

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७

१ गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवत्मां प्राणाधियः संचरति स्वककर्मभिः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् ५-७

२ बृहदारण्यकोपनिषद्- ३.२.१३

३ कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामाभिर्जायते तत्र तत्र। मुण्डकोपनिषद् ३.२.२

४ लिङ्ग मनोयत्र निषित्तमस्य। बृहदारण्यकोपनिषद्- ४.४.६

५ एष ह्यीव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषत् एष उ एव साधुकर्म कारयति तं यमधो निनिषत्।
एष लोकपालः एष लोकाधिपति एष लोकेशः। स म आत्मेति विद्यात्।। कौषीतकि उप. १.११.९

सीमा तक कर्म स्वातंत्र्य स्वीकारता है।[१] इस स्वतंत्रता का मूल कारण आत्मज्ञान को माना गया है।[२] उपरोक्त सभी संदर्भों से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में प्रयुक्त कर्म संबंधी अवधारणा अत्यंत ही गूढ़ एवं दुर्बोध है, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में अत्यंत ही सहज, सरल, बोधगम्य एवं व्यापक अर्थ में प्रस्तुत किया गया है। मीमांसा दर्शन में जहाँ कर्म का अभिप्राय यज्ञ-यज्ञादि क्रियाओं से है वहाँ गीता वर्णाश्रम के अनुसार किये जाने वाले स्मार्त कार्यों को भी कर्म मानती है। बालगंगाधर तिलक महोदय के अनुसार कर्म शब्द केवल यज्ञ-याग एवं स्मार्त कर्म के ही संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।[३] मनुष्य जो कुछ भी करता है या जो कुछ भी नहीं करने का मानसिक संकल्प या आग्रह रखता है, उन सभी कायिक या मानसिक प्रवृत्तियों को गीता कर्म ही मानती है।[४] इस तरह पूर्ववर्ती वाङ्मय की अपेक्षा गीता में कर्म शब्द का प्रयोग व्यापकार्थ में हुआ है। प्रस्तुत शोधपत्र में कर्म के स्वाभाविक स्वरूप के चित्रण के साथ ही कर्त्ता के स्वरूप एवं संकल्पों पर विशिष्ट दृष्टि से चिन्तन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार अव्यक्त प्रकृति एवं उससे जनित गुणों से ही कर्म संभव होते हैं। अज्ञान व मिथ्याज्ञान से मनुष्य अपने आपको कर्त्ता मानता है।[५] कर्म के पाँच कारण बताए गए हैं-(१) अधिष्ठान, (२) कर्त्ता, (३) करण अर्थात् इन्द्रियाँ, (४) पृथक् चेष्टाएँ और (५) दैव अर्थात् सर्वशक्ति संपन्न ईश्वर।[६] कर्म जीव का स्वभाव है। अतः कर्म के बिना जीव क्षणमात्र भी नहीं रह सकता है।[७] किन्तु किस प्रकार का कर्म किया जाये, उसका निर्धारण आवश्यक है तभी तो कर्म की गति को जटिल व अटल बताया गया है।[८] कर्म की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर रखकर यह निश्चित करना आवश्यक है कि किस प्रकार का कर्म उचित है। इसके लिए कर्मों का वर्गीकरण अत्यावश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता में विभिन्न आधारों पर कर्म का वर्गीकरण किया गया है-

---

[१] यह इहात्मानमनुविद्य वजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति। य इहात्मा नं अनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।। छान्दोग्य उपनिषद्. ८.१.६

[२] "यं यं अन्तं अभिकामोभवति यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते।" वही. ८.२.१०

[३] गीता रहस्य, पृ. ५५-५६

[४] नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन्।।
प्रलपन् विसृजन गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्ता करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। श्रीमद्भगवद्गीता- ५.८-११

[५] प्रकृतेः क्रियमाणनि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। वही, ३.२७
अपि च-
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति।। वही, १३.२९

[६] अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधं विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्। वही, १८.४

[७] न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृतः... वही ३.५

[८] गहना कर्मणो गति..., वही ४.१७

१. साधन के आधार पर - मानसिक, वाचिक और कायिक

२. धार्मिक/गुणों के आधार पर - सात्विक, राजस् और तामस्

३. वेदान्तिक आधार पर- प्रारब्ध, संचित और संचीयमान

४. वैज्ञानिक आधार पर- कर्म, अकर्म, विकर्म

५. हेतु के आधार पर- नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध

६. कामना के आधार पर- सकाम और निष्काम

श्रीमद्भगवद्गीता में इन सभी प्रकार का वर्गीकरण प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया गया है। हेतुक कर्म में नित्य और नैमित्तिक कर्म करने के लिए निर्देशित किया गया है क्योंकि इनसे फलबन्धन नहीं होता किन्तु काम्य और निषिद्ध कर्मों को करने की मनाही है। सभी कर्मों को सकाम और निष्काम दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। सकाम कर्म वह कर्म है जो स्वसुख व लौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से किया जाता है। यह किसी संयोग या पदार्थ के संग्रहण की इच्छा से किया जाता है इसका केन्द्र भौतिकता है। निष्काम कर्म वह है, जिसे हम किसी कामना की पूर्ति हेतु नहीं करते। कामनायुक्त कर्म सकाम कर्म है इसके विपरीत कामनारहित व उद्देश्य प्रेरित कर्म निष्काम है। उद्देश्य या आवश्यकता का संबंध नित्य या आध्यात्मिक तत्त्व से होता है। कामना अनित्य तत्त्व भी होती है। आवश्यकता की पूर्ति संभव है किन्तु कामना की पूर्ति कभी नहीं होती। दोनों परस्पर विरोधी हैं, 'निष्काम कर्म' शब्द का वैसे भारतीय वाङ्मय में यत्र तत्र विभिन्न रूपों में प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद ईवशावास्योपनिषद् में उल्लेख है कि कर्मयोगी को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने का संकल्प करना चाहिए।[१] कठोपनिषद् में वर्णित है कि ऋक्, साम, यजुर्वेद तीनों तत्त्व रहस्य में निष्णात होकर निष्काम भाव से यज्ञ, दान और तप तीनों कर्मों को करने वाला प्राणी जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[२] श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार कर्मयोगी सत्त्व, रज और तम- इन तीनों गुणों से व्याप्त वर्णाश्रम विहित कर्तव्य कर्मों का अहंकार, ममता और आसक्ति से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है, उसका कर्मों के साथ संबंध न होने के कारण वे उसे फल नहीं देते।[३] निष्काम भाव कर्माचरण ही कर्मों में लिप्त न होने का एक मात्र मार्ग है।[४] है।[४] गीता के अनुसार वे जो सर्वभूतहित व सत्यमूलक है- निष्काम कर्म है, इसमें समत्व योग से कर्म बंधनों का क्षय होता है।[५] निष्काम कर्म भाव की स्थापना में मुख्यतः दो तथ्य सहायक हो सकते हैं-

---

[१] शुक्लयजुर्वेद ४०.११

[२] त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।। कठोपनिषद् १.१.१७

[३] आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.४

[४] कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ईशोपनिषद् २

[५] एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। श्रीमद्भगवद्गीता २.३९

## लोकसंग्रह

स्वार्थ या कामना से कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाता है। यद्यपि बन्धनों को तोड़ना एवं मुक्ति का आनंद लेना ही सर्वसाधारण का अभीष्ट उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु स्वहित युक्त कर्म उपयुक्त नहीं है। व्यावहारिक नैतिकता में लोकसंग्रह अर्थात् सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ माना गया है।[१] यहाँ यह स्पष्ट मान्यता है कि आसक्ति रहित लोकसंग्रह को ध्यान में रखकर किये गये कर्मो से ही संसिद्धि प्राप्त होती है।[२] सर्वभूतहित की भावना को गीता में सर्वोच्च आदर्श की श्रेणी में रखा गया है।[३] जो प्राणी समस्त भूतों के हित में लीन है, वे ईश्वर को प्राप्त होते हैं।[४] सर्वभूतहित के लिए ज्ञानीजन को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए।[५] आसक्ति रहित और हेतुरहित होकर समस्त भूतों के प्रति अहिंसा, अक्रोध, अद्रोह, करुणा, सत्य-सद्भावना, परोपकार आदि धर्मो का पालन दैवीय संपदायुक्त जीव का लक्षण माना गया है।[६] जिनके अभ्यास से व्यक्ति निष्काम भाव को अपने में उत्तरोत्तर विकसित कर सकता है।

## नियत् स्वधर्मपालन

गुण और कर्म के आधार पर जिन चतुर्वर्णो[७] की सृष्टि हुई उन वर्णो के निर्धारित कर्म करना ही 'स्वधर्म' है। इसे ही सहज कर्म, स्वधर्म या नियत कर्म आदि कहा गया। यहां 'धर्म' शब्द कर्म या कर्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ

---

[१] Sinha, J. N., ***A Manual Of Ethics***, Page- 248

[२] कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।। श्रीमद्भगवद्गीता ३.२०

[३] मत्कर्मकृत्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैर सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। वही, ११.५५
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। वही, १२.१३
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।। वही, १६.२

[४] संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। वही, १२.१४

[५] सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। वही, ३.२५

[६] अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्चयज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। वही, १६.१-३

[७] चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। वही, ४.१३

है। नियत् कर्मों को करने वाला प्राणी सकाम भाव से प्रेरित नहीं होता अतः वह पाप का भागी नहीं होता।[१] गीता की मान्यता है कि दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार धुँए से अग्नि आवृत्त रहती है, उसी प्रकार अधिकांश कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त है।[२] कर्म के दोष से आवृत होने के बाद भी यदि व्यक्ति उचित अनुचित का सम्यक् विचार कर अनासक्त भाव से कर्म करता है तो वह नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है। सामाजिक हित के लिए स्वधर्म पालन प्राणी को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्तव्य[३] पालन फलेच्छा से रहित होकर पालन करना अनिवार्य है अन्यथा वह कर्त्तव्यच्युत समझा जायेगा। गत्यात्मक सृष्टि चक्र में यदि एक व्यक्ति भी कर्त्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव संपूर्ण सृष्टि पर पड़ता है।[४] फलेच्छा से जो शुभकर्म किये जाते हैं उसे 'कर्म' कहा जाता है। समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं उन्हें 'विकर्म' कहा जाता है, साथ ही फलेच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप सेवादि शुभ कर्म किये जाते हैं वे भी 'विकर्म' कहलाते हैं। गीता के अनुसार जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन वाणी व शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के विचार से किया जाता है वह तामस कहलाता है।[५] आसक्ति और अहंकार से रहित होकर शुद्धभाव व कर्त्तव्यबुद्धि से किये जाने वाले कर्म (जो बाह्यतः विकर्म प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने से 'अकर्म' ही हैं।[६] फलासक्तिरहित होकर कर्त्तव्य बुद्धि से किये जाने वाला कर्म मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देने वाला होने से 'अकर्म' ही है। फलेच्छा का परित्याग करके करणीय कर्म को करने वाले व्यक्ति को 'संन्यासी' या 'योगी' कहा गया है।[७] कर्मों का त्याग अर्थात् अकर्म की तुलना में कर्म को श्रेयस्कर माना गया है। कर्मों के त्याग को सच्चा संन्यास नहीं कहा जा सकता, न ही व्यक्ति इससे साध्य को ही प्राप्त कर

---

[१] श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।। वही, १८.४७

[२] सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। वही, १८.४८

[३] शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्कर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।। वही, १८.४२-४४

[४] वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड- ७३, ७६

[५] मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। श्रीमद्भगवद्गीता, १७.१९

[६] यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। वही, १८.१७

[७] अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। वही, ६.१

सकता है।[१] कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी संभव नहीं है। अतः गीता शास्त्रविहित कर्म करने, नियत कर्म व फलेच्छा रहित कर्म को वरीयता प्रदान करती है।[२] मूलतः नैष्कर्म्य हेतु गीता की मान्यता है कि अहंकार रहित संपूर्ण चेष्टाओं अर्थात् कर्मों में अकर्म और अकर्म में कर्मभाव लाने वाला व्यक्ति ही ज्ञानी है और ऐसा व्यक्ति कर्मों को करते हुए भी बन्धन में आबद्ध नहीं होता।[३] गीता में 'विकर्म' शब्द का भी प्रयोग दृष्टिगोचर है। कुछ विद्वानों ने विकर्म का प्रयोग दो अर्थों में लिया है-(क) निषिद्ध कर्म और विशिष्ट कर्म। आचार्य विनोबा भावे ने 'विकर्म' का प्रयोग विशिष्ट कर्म के अर्थ में लिया है। उनके अनुसार कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिए, इस मेल को ही गीता 'विकर्म' के रूप में अभिहित करती है। इस विशिष्ट कर्म का मानसिक अनुसंधानपूर्वक जब हम भोग करेंगे तभी उसमें निष्कामता की ज्योति आयेगी। कर्म के साथ जब आन्तरिक भावों का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। कर्म में विकर्म उड़ेलने से अकर्म हो जाता है। विकर्म में मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है। जैसे कर्म करके उसे पोछ दिया गया हो।[४] इसे भावे जी ने कर्म+विकर्म=अकर्म - समीकरण रूप में प्रस्तुत किया है। मनुष्य अपनी प्रवृति, मनःस्थिति और वृत्ति के अनुसार किसी न किसी गुण विशेष से प्रभावित होता है। 'सत्त्व' गुण या कर्म निर्मलता, आलोक और निर्लिप्तता से युक्त होने के कारण सुख और ज्ञानप्रदाता माना जाता है। 'रजोगुण' मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करता हुआ अनुराग व तृष्णा को उत्पन्न करता हुआ लोभ का प्रतीक बना तो 'तमोगुण' अज्ञान से उत्पन्न होकर मोह पाश में डाल देता है जो मोह और अज्ञान का प्रतीक बन जाता है।[५] गुणात्मक कर्मों के अभिव्यक्त फल के विषय में गीता का कथन है कि सत्कर्म की सात्विकता सुख, ज्ञान व वैराग्य आदि निर्मल फल है। राजस् कर्म का फल दुःख और तामस् का अज्ञान।[६] सात्विक, राजस् और तामस्[७] कर्मों के स्वरूप का विवरण गीता में इस प्रकार उल्लिखित है कि- जो कर्म

[१] न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। वही, ३.४
[२] संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकारावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। वही, ३.४, ५.२
[३] कर्मण्य कर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। वही, ४.१८
[४] आचार्य विनोबा भावे, गीता प्रवचन- पृ. ४६-४९
[५] तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखासङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संयत्युत।। गीता- १४.६-९
[६] कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। वही, १४.१६
[७] ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।

शास्त्रविधि से नियत व कर्त्तापन के अधिकार से रहित फलेच्छा के बिना किया जाये वह 'सात्विक कर्म' है। जो कर्म अत्यंत परिश्रम से युक्त व फलेच्छा व अहंकार से किया जाता है वह कर्म 'राजस कर्म' कहलाता है। और जो कर्म परिणाम हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार किये बिना अज्ञानवश किया जाये वह 'तामस् कर्म' है।[१] नियत कर्म के तीन प्रेरक तत्त्व बताये गये हैं-ज्ञान, ज्ञेय व परिज्ञाता इनके संयोग से ही कर्म में प्रवृति की इच्छा उत्पन्न होती है। इन्द्रिय, क्रिया और कर्त्ता इसके तीन अङ्ग हैं जिनके पारस्परिक संयोग से इसका निर्माण होता है।[२] ज्ञान और ज्ञेय से मनुष्य परिज्ञाता होता है तथा इन्द्रिय और क्रिया से कर्त्ता। वह गुण के कारण ही परिज्ञाता और कर्ता हो पाता है। इन्हीं त्रिविध भावों से उसकी क्रिया संचरित होती है। ज्ञान कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति वह सुख इसी त्रिविधि भावों से उत्पन्न है। श्रद्धा, यज्ञ, तप दान आदि कर्म भी सात्विक, राजस् व तामस् वृत्तियों से प्रभावित होते हैं। सात्विक, राजस् और तामस्- ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और इस अविनाशी जीवात्मा को आबद्ध करते हैं।[३] इन त्रिगुणों से ही व्यक्ति कर्म और तद्जनित संस्कार प्राप्त करता है व शरीर के संग से व्युत्पन्न होने वाले त्रिगुणों को पारकर गुणातीत हो जाता है।[४] जब कर्त्ता स्वयं के कर्मों के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण अपना लेगा, तभी उसके द्वारा कृत कर्म उसके बन्धन के कारण नहीं बनेंगे। शरीर से कर्म करते हुए भी यदि उसके मन में ऐसे कर्मों व फलों के प्रति विरक्ति है तो वे कर्म उसके बन्धन के कारण नहीं बनेंगे। जैसा कि तिलक महोदय ने लिखा है कि-"जड़ अथवा अचेतन कर्म किसी को न तो बाँध सकते हैं और न छोड़ सकते हैं। मनुष्य फलेच्छा या अपनी आसक्ति से कर्मों में बंध जाता है। इस आसक्ति से अलग होकर वह यदि केवल बाह्य इन्द्रियों से कर्म करे तभी वह मुक्त है।"[५] इस प्रकार गीता में आसक्ति या तृष्णा को ही कर्मबन्धन का सशक्त कारण माना गया है। कर्मबन्धन अपनी शक्तियों (आसक्ति व तृष्णा) के द्वारा स्वतंत्र रूप से अपने फल उत्पन्न करते हैं एवं कर्मफल से आवागमन प्रभावित होता है।[६] यहाँ यह भी ज्ञात है कि कर्म स्वतः अथवा फल उत्पन्न

---

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यतिप।। वही, १८.१९
[१] नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तामसमुच्यते।। वही, १८.२३-२५
[२] ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।। वही, १८.१८
[३] सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्यन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। वही, १४.५
[४] वही १४.५-२०
[५] गीता रहस्य, बालगंगाधर तिलक, पृ. ३१८
[६] इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। गीता- ४.१
अपि च-

नहीं करते हैं, अपितु ईश्वर शुभाशुभ जीवन की व्यवस्था करके कर्मों का क्रमशः पारितोषिक एवं दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं।[१] यहाँ यह भी दर्शाया गया है कि अज्ञान के कारण ही पाप एवं पुण्य का विचार होता है।[२] यदि हम सही ढंग से विचार करें तो ईश्वर पाप या पुण्य नहीं करता। यहाँ फिर गीता में कर्म के दो विपरीत सिद्धान्त ज्ञात होता है- (१) जिसमें कर्म को जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं का कारण माना गया है एवं (२) वह जो शुभ एवं अशुभ को कोई मूल्य नहीं देता। कभी स्वयं शुभ या अशुभ नहीं होते केवल अज्ञान एवं मूर्खता के कारण ही कुछ कर्म शुभ अशुभ माने जाते हैं। जैसे समरांगण में अपने स्वजनों की हत्या करते समय पाप नहीं समझा जाता जब वे कर्तव्य की भावना से किये गये परन्तु वह कर्म पापरूप में परिणत हो जाते हैं तब जब वे आसक्ति अथवा कामनावश किये जाते हैं। इस दृष्टि से गीता के नैतिकता का सिद्धान्त निश्चयेन आत्मगत है परन्तु नैतिकता केवल आत्मगत अन्तरात्मा अथवा शुभ एवं अशुभ के आत्मगत विचारों पर आधारित नहीं है। वर्ण, धर्म एवं परम्परागत नैतिकता के साधारण धर्म निश्चयेन स्थिर है एवं उनका उल्लंघन किसी को भी नहीं करना चाहिए। पाप व पुण्य की आत्मगतता पूर्णतया हमारे शुभ व अशुभ कर्मों पर आधारित है।

इस तरह गीता का कर्मसिद्धान्त अकाट्य, अटूट व आस्थापूर्ण है। इसी कर्म के आधार पर संसार का विकास हुआ है,[३] आसक्ति, वासना एवं कामना के अस्तित्व के कारण कर्मबन्धन होता है परन्तु कर्मबन्धन मनुष्य को कहां ले जाता है? इस यक्ष प्रश्न के उत्तर में गीता का कथन है कि वह कर्म बन्धन मनुष्य को आवागमन या पुनर्जन्म के चक्कर में फंसा डालता है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है और मृत्यु प्राप्त का जन्म भी अवश्यंभावी है। पुनर्जन्म की इसी तर्कसंगत व्याख्या के साथ बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद (भव चक्र) या द्वादश निदान का दर्शन कराते हैं। भारतीय दर्शन की मूलभित्ति तर्क है, और गीता कड़े शब्दों में संदेह की निन्दा करता है। किसी भी ज्ञान मीमांसा या दार्शनिक जाँच के लिए जिज्ञासा अनिवार्य है परन्तु गीता का कथन है कि अज्ञानी, श्रद्धा न करने

---

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृतकश्चिद्गुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समा।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
तदद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसद्धौ कुरुनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैनव ह्नियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। वही, ६.४०-४५

[१] तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। वही, १६.१९

[२] नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। वही, ५.१५

[३] संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। वही, १५.२ अपि च, वही ४.१

और संशय करने वाला नष्ट हो जाता है, उसके लिए इस लोक में भी जगह नहीं है, न ही वह दूसरे लोक का सुख पायेगा।[१] इसी के साथ यह भी कहा गया है कि ज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा करने वाले संयमी को होती है। ज्ञान पाकर वह परम शांति प्राप्त कर लेता है।[२] श्रद्धा तर्क सम्मत नहीं होती, परन्तु गीता का कथन यहीं से आरम्भ होता है कि श्रद्धावान् ज्ञान पा जाता है। उसने मूल रूप से ज्ञान प्राप्त कर लिया क्या? इसकी पुष्टि का कोई तर्कसंगत उपाय है? ऐसा ज्ञान मौलिक ज्ञान होता है क्या? श्रद्धा के कारण ज्ञान प्राप्त होता है या तर्कहीन विश्वास के कारण- इसकी जाँच कैसे हो सकती है?

## सन्दर्भग्रन्थ:


1. Sādhale, G. S., & Śaṅkarācārya, . (2000). ***Śrīmadbhagavadgītā: Śāṅkarabhāṣyōdyekādaśaṭīkopetā***. Parimal Publication, Delhi.
2. Sinha, J. N., (1973). A Manual Of Ethics, New Central Book Agency (P) Limited.
3. Swami, Chinmayanand, Third Edition (1967). ***The Sreemad-Bhagavad-Geeta: The Art of Right Action***, the Central Chinmaya Mission Trust. Bombay.
4. आचार्य, श्रीराम शर्मा, (२००२). ***यजुर्वेद संहिता***, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार।
5. लिमये, वि. प्र., (१९५८). ***अष्टादश-उपनिषदः (भाग १-२)***, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे।
6. सप्रे, तिलक, माधवराव जी (अनु.), बाल गंगाधर (लेखक)१९६२.***श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र***, जयंत श्रीधर तिलक, ५६८ नारायणपेठ, पूना
7. सरस्वती ,स्वामी जगदीश्वरानन्द,सम्पा .(२००३), ***यजुर्वेद संहिता*** ,वेदज्योति प्रेस ,जी-७ ,मॉडल टाउन , दिल्ली-९।


[१] अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। गीता- ४.४०

[२] श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। वही, ४.३९